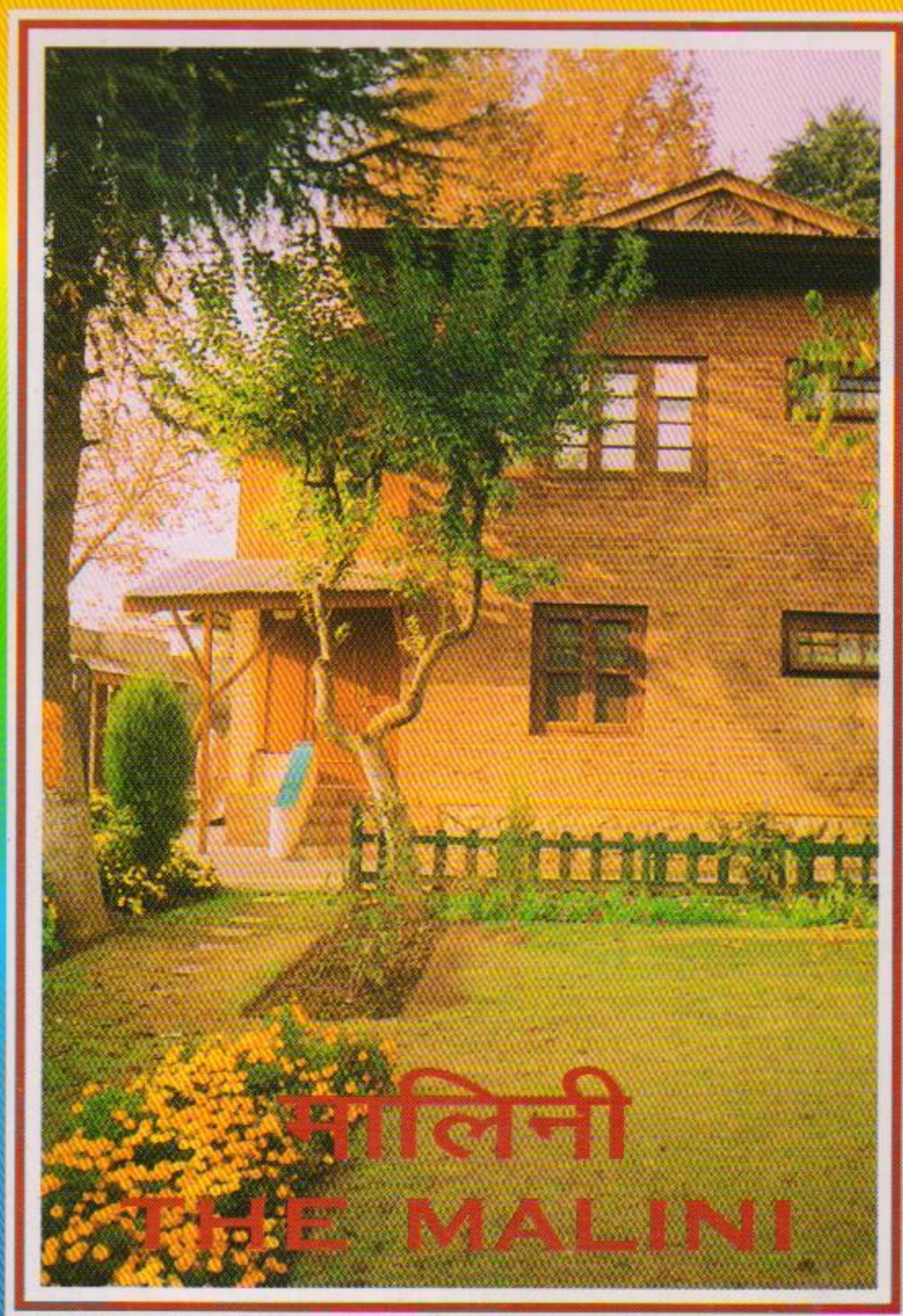


JANUARY, 2000



**ISHWAR ASHRAM TRUST**

ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR





# मालिनी THE MALINI

*Abhinavagupta about Mālinī*

यन्मयतयेदमखिलं, परमोपादेयभावमभ्येति।  
भवभेदास्त्रं शास्त्रं, जयति श्रीमालिनी देवी॥

*Śrī Mālinī Devī is ever victorious. In union  
with her all the treatises of non-dualistic  
order achieve the nature of divine potency.*

*T.A.A. XXXVII*

**ISHWAR ASHRAM TRUST**  
ISHBER (NISHAT), SRINAGAR, KASHMIR

**Board of Trustees :**

Sri Inderkrishan Raina  
(Secretary/Trustee)

Sri Samvit Prakash Dhar

Sri Brijnath Kaul

Sri Mohankrishan Wattal

**Editorial Board :**

Sushri Prabhadevi

Prof. Nilakanth Gurtoo

Prof. Makhanlal Kukiloo

Sri Somnath Saproo

Sri Brijmohan

(I.A.S. Retd.) Co-ordination

**Publishers :**

Ishwar Ashram Trust

Ishber (Nishat), Srinagar

Kashmir.

**Administrative Office :**

Ishwar Ashram Bhawan

2-Mohinder Nagar

Canal Road

Jammu Tawi - 180 002.

Tel. : 553179, 555755

**Branch Office :**

F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044

Tel. : 6943307

Telefax:6955611

January, 2000

Price : Rs. 20.00

© Ishwar Ashram Trust

Produced on behalf of Ishwar Ashram Trust

by Paramount Printographics, Daryaganj, New Delhi-2. Tel 328-1568, 327-1568



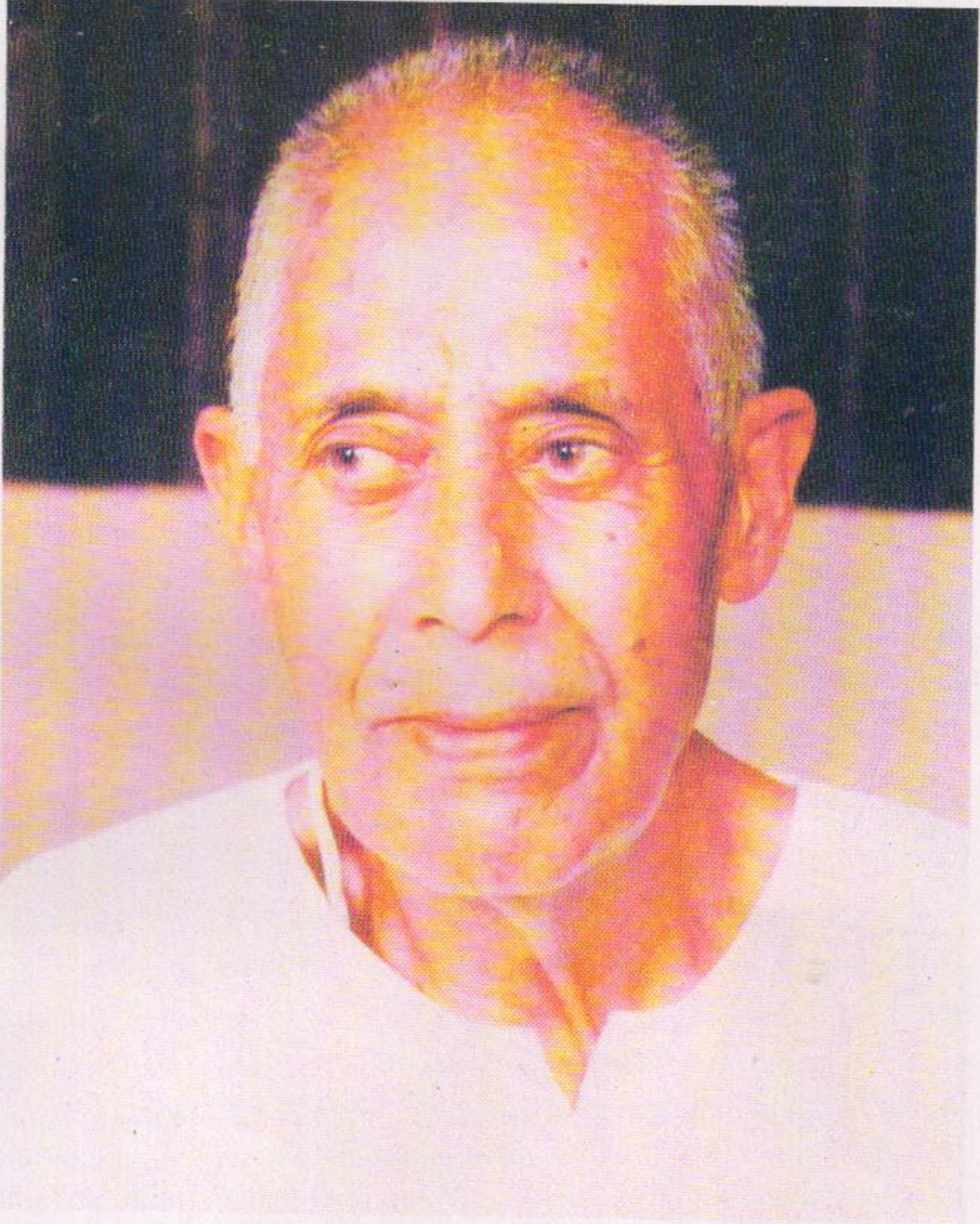
ॐ नमः परमसंविद् चिद्वपुषे

## विषय सूची : Contents

सम्पादक की लेखनी से		4
1. Śiva Sūtras	<i>Svāmī Lakṣmaṇa Joo</i> <i>Mahārāja</i>	6
2. Gopinath Kaviraj on Pūrṇa	<i>Translation from Bengali</i> <i>into English by</i> <i>Dr. H.N. Chakravarty</i>	12
3. Tantric System in Buddhism	<i>Dr. Wang Chuk Dorje Negi</i> <i>C I H T S, Sarnath</i>	15
4. Think it Over	<i>Gems from Sarva Geetasar</i>	24
5. विज्ञान भैरव-समीक्षात्मक अध्ययन	शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज	25
6. आचार्याभिनवगुप्तप्रगीतः षोडशमातृकाधीश्वरस्तवः	भाषानुवादक डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित	30
7. सद्गुरु महिमा	रचना-आचार्य श्री रामेश्वरझा अनुवाद-सुश्री प्रभादेवी	38
8. शतशत प्रणाम (शारिका जयन्ती श्रद्धांजलि)	सुश्री प्रभादेवी	39



श्री ईश्वरस्वरूप लक्ष्मण जू महाराज



आविर्भावदिवस

9-5-1907

महासमाधिदिवस

27-9-1991



## संपादक की लेखनी से

नवसहस्राब्दि के प्रथमवर्ष का यह मालिनी अंक सहस्राब्दि की प्रथम वेला का सुअवसर देखने वाले धन्य प्राणियों के हाथ में सौंपते हुए हमें अपार प्रसन्नता हो रही है। विगत सहस्राब्दि के वितत घटना चक्र के अरों की तीव्र गति का यत् किञ्चित् साक्षात्कार करके जो कुछ हमें अनुभव हुआ उसकी सत्यता या भयावहता का स्वरूप आंके बिना परमशिव की अलौकिक विभूतियों की गाथा को दुहराना ही एकमात्र सत्य है। वही सत्य इस विशाल कालचक्र का मापक है। इसीलिए कालाधीश के नाम से भी शास्त्रों में वह विख्यात है। कश्मीर शैव धारा में काल शब्द की तीन अर्थों में व्याख्या हुई है। प्रथम अर्थ परमशिव के स्वातन्त्र्य के साथ सम्बद्ध है जो संसार में क्रमशीलता को उत्पन्न करता है और कालशक्ति के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा अर्थ व्यक्ति प्रमाता के एक अवच्छेद तत्त्व के साथ जुड़ा है। इस रूप में यह वह परिमित शक्ति है जो उनका अनुभावक है। तीसरा रूप काल का व्यापक मान है। इस रूप में यह एकानेक रूप वाले वस्तुओं पर आधृत है। इसी रूप में नियमित तथा अनियमित रूप से घटने वाली घटनायें घटती हैं। काल के सम्बन्ध में हम यह देखते हैं कि इसकी अनेकता बाह्य रूपों पर और एकता अन्तःकरण की वृत्ति पर आधारित है तथा काल की सभी प्रतीतियों में दो वस्तुओं की क्रियायें जुड़ी रहती हैं। इस प्रकार नव सहस्राब्दि का प्रवेश भी यथार्थ सत्ता का ही नित्य स्वरूप है जो विश्व का अन्तस्तम सार तत्त्व है। महान् दार्शनिक “हेनरी बर्गस” अपनी पुस्तक “Creative Mind” में काल को एक मूलभूत सिद्धान्त तथा सारे ब्रह्माण्ड का सार-तत्त्व मानता है। वह काल की यथार्थता के हामी हैं और इस यथार्थता के विषय में उनका विचार है कि “यथार्थता एक ऐसी नदी है जिसमें न तलहटी है न किनारे और वह किसी निर्धारित शक्ति के बिना एक ऐसी दिशा को बहती जा रही है जिसकी कोई परिभाषा नहीं है। यथार्थ की यह प्रवाह प्रक्रिया ही जीवन है, काल है, अवधि है। काल की इसी अभिभावक-शक्ति से अभिभूत होके हम नवसहस्राब्दि के आगमन का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए यही कामना करते हैं कि सद्गुरु महाराज हमें ऐसी क्षमता प्रदान करें कि हमारा इस नवसहस्राब्दि के नव वर्ष का प्रत्येक क्षण पर-तत्त्व चिन्तन और लोकोपकार में ही व्यतीत हो क्योंकि परतत्त्वचिन्तन व मनन ही अन्धकार से प्रकाश की ओर लेकर हमें स्वरूपप्रथनलाभ का पात्र बनाता है तथा जीवन में उत्कृष्ट प्रकार का आनन्द सांसारिक वैभव व समृद्धि तथा अलभ्य वस्तुओं की प्राप्ति का द्वार खोलता है। जय गुरुदेव।

यह सर्वविदित है कि दक्षिण दिल्ली स्थित ‘सरिता विहार’ में अधिगत भूमिखण्ड पर



आश्रम-परिसर का निर्माण कार्य, दिल्ली विकास प्राधिकरण (D.D.A.) के कार्यालय से आज्ञापत्र पाते ही आरम्भ होगा। एक दो सप्ताह में आज्ञापत्र पाने की पूरी संभावना है। सभी दानवीरों से विनम्र प्रार्थना है कि इस निर्माण कार्य में संपूर्ण रूप से आर्थिक सहयोग देकर अपना उद्धार करें। उनका दिया हुआ यह आर्थिक अनुदान आयकर सीमा ८०-जी-१९६१ अनुच्छेद के अन्तर्गत आयकर से मुक्त समझा जायेगा।

ईश्वराश्रम परिवार को नवसहस्राब्दि के नववर्ष की मंगलमय शुभकामनायें।

जनवरी - २०००

प्रो. मखनलाल कुकिलू



One should regard everything as of the form of Śiva and Śakti. Who has always this conviction, is liberated while living. Time can never take him away who always contemplates on Śiva. The yogi functioning freely by means of union with divine consciousness achieves equality with the absolute free will of Bhairava. He becoming Svachchanda moves about freely and enjoys full freedom.

*Svacchanda Tantra*

**MALINI - Quarterly Magazine**

*Annual Subscription : Rs. 80.00*

*Price Per Copy : Rs. 20.00*

*Overseas Subscription : US\$25.00*

*All correspondence & subscription  
must be sent to the Administrative Office :*

2-Mohinder Nagar, Canal Road  
Jammu Tawi - 180 002.

*Information regarding printing & publishing etc.  
can be had from*

F-115, Sarita Vihar, New Delhi - 110 044.

Phone : 6943307

## ŚIVA SŪTRAS

with Vimarśinī Sanskrit Commentary of Śrī Kṣemarāja

Īśvara Svarūpa Svāmī Lakṣmaṇa Joo Mahārāj

(continued from last issue)

अत्रैव उपायान्तरमाह—For this he puts another means to attain such a state of yoga : —

शुद्धतत्त्वसंधानाद्वाऽपशु शक्तिः॥१६॥

Śuddha-tattvasandhānādvā'paśu śaktiḥ

By aiming that pure element of God consciousness he possesses unlimited energy or by establishing uninterrupted awareness of pure supreme nature, the energy of Śiva is experienced.

शुद्धं तत्त्वं परमशिवाख्यं, तत्र यदा विश्वमनुसंधत्ते 'तन्मयमेव तत्' इति, तदा अपशुशक्तिः—अ-अविद्यमाना पश्वाख्या बन्धशक्तिर्यस्य तादृगयं सदाशिववत् विश्वस्य-जगतः, पतिर्भवति। तदुक्तं श्रीमल्लक्ष्मीकौलार्णवे—

दीक्षा सिद्धौ तु ये प्रोक्ताः प्रत्ययाः स्तोभपूर्वकाः।

संधानस्यैव ते देवि कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ इति।

श्री विज्ञानभैरवे तु—

सर्वं देहं चिन्मयं हि जगत् वा परिभावयेत्।

युगपत् निर्विकल्पेन मनसा परमोद्भवः॥ इति।

तदेतत्—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।

स पश्यन्सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥

इति कारिकया संगृहीतम्॥१६॥

शुद्धं तत्त्वं—Pure element, परमशिवाख्यं of that God-consciousness, तत्र—there, यदा—When a yogi, विश्वमनुसंधत्ते—perceives this whole universe, तन्मयमेव एतत् इति—one with himself, तदा—then, अपशुशक्तिः—पशुः—means beast or ignorant, शक्तिः—energy, अ-अविद्यमाना—not possessing, पश्वाख्याबन्धशक्तिः—binding energy of ignorance, तादृग्—of that type, अयं—this,



सदाशिववत्—just like, सदाशिव, विश्वस्य जगतः—of whole universe, पतिर्भवति—becomes master, तदुक्तं—as is said, श्री लक्ष्मी कौलार्णवे—in Śrī Lakṣmī Kaulārṇava:—दीक्षासिद्धौ—at the initiation of great masters, तु—certainly, ये—which, प्रोक्ताः—are said, प्रत्ययाः—yogic powers, स्तोभपूर्वकाः—with faith, संधानस्यैव—of universal consciousness alone, ते—they, देवि!—O Devi, कलां षोडशीम्—one sixteenth part of, नार्हन्ति—will not compete.

श्री विज्ञान भैरवे—In Vijñānabhairava also:—जगत् सर्वं—this whole universe, वा—or, देहं—your body, चिन्मयं—one with God-consciousness, परिभावयेत्—When you feel, युगपत्—you have to feel that simultaneously, निर्विकल्पेन मनसा—with thoughtless mind, परमोद्भवः—then the rise of that supreme consciousness takes place. It is essential to note here that when we say सर्वं देहं चिन्मयं परिभावयेत्—feel this your body one with God consciousness, it is—आणवोपाय (āṇavopāya. When we say सर्वं जगत् चिन्मयं परिभावयेत्—feel this whole universe one with God-consciousness, it is Śāktopāya. When we say—सर्वं युगपत् निर्विकल्पेन मनसा परिभावयेत् feel everything simultaneously with thoughtless mind with God-consciousness, it is Śāmbhavopāya. तदेत्—the same idea has been, इति कारिकया संगृहीतम्—explained in the following verse of Spandakārikā:—

इति वा—or, यस्य संवित्तिः—Who has this realization (i.e. identity of his self with the whole universe), क्रीडात्वेन—as the play, अखिलं जगत्—the entire world, स—he, पश्यन्—views, सततं—being constantly, युक्तो—united with the divine, जीवन्मुक्तो—is liberated while alive, न संशयः—without any doubt.

When a Yogi sees the whole universe as saturated with that consciousness and discards away the differentiatedness of subjectivity and objectivity, he becomes one with this whole universe. For this Vasugupta, the author, puts another means to attain such a state of yoga. He says that by attaining that pure element of God consciousness he possesses unlimited energy of Śiva. He perceives that pure element of Paramaśiva. Then you have to make this whole objectivity to enter in that God-consciousness. Every thing there will appear you one with him. Then you will discard your separatedness and will be free from the energy of entangleness



which binds you. With this process you will become just like Sadāśiva in that universal state. As is said in Śrī Lakṣmī Kaulārṇava that yogic power is aimed at the initiation of great masters but all those yogic powers will not compete with the one sixteenth part of this universal consciousness. In Vijñānabhairava also it is explained that when you feel this whole universe and your body is one with God-consciousness and this sort of feeling will be experienced simultaneously, then the rise of that supreme consciousness takes place. The same idea has been explained in Spanda kārikā also. It is said there that he who has identity of his self with the whole universe, being constantly united with the divine, views this whole universe as the play, he is liberated while alive, there is no doubt about this.

ईदृग् ज्ञानरूपस्य अस्य योगिनः—For such a yogi who has achieved such type of knowledge or whose knowledge is highly elevated:-

**वितर्क आत्मज्ञानम्॥१७॥**

*Vitarkaḥ Ātma jñānam*

With the knowledge of being one with one's self, whatever he thinks, he confirms that. Or for such a realized soul, any ordinary thought becomes the means of realizing one's own self.

‘विश्वात्मा शिव एवास्मि’ इति यो वितर्को-विचारः, एतदेव अस्य आत्मज्ञानम्। तदुक्तं श्री विज्ञानभैरवे—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः।

स एवाहं शैवधर्मा इतिदार्ढ्यात् शिवो भवेत्॥ इति।

स्पन्देऽपि—

इयमेवामृतप्राप्तिः अयमेवात्मनो ग्रहः।

इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भाव दायिनी॥

इत्यनेन एतदुक्तम्। तत्र हि आत्मनो ग्रहणं ग्रहः-ज्ञानं एतदेव यत् विश्वात्मक शिवाभिन्नत्वम्। एषोऽपि अर्थो विवक्षितः।

‘विश्वात्मा शिव एवास्मि’—I am Lord Śiva one with universe, इति यो वितर्कः-विचारः—this kind of thinking, एतदेव—this is, अस्य आत्म ज्ञानं—his personal knowledge, तदुक्तं—as is said, श्री विज्ञानभैरवे—in Śrīvijñānabhairava-



सर्वज्ञः—*is all knowing*, सर्वकर्ता—*all doing*, च—*and*, व्यापकः—*pervades the whole universe*, परमेश्वरः—*Lord* स एवाहं—*he is one with yourself*, शैवधर्मा—*because the aspects of śiva are aspects of mine*, इति दार्ढ्यात्—*by this attentive meditation or perception*, शिवो भवेत्—*he becomes one with Lord śiva*, स्पन्देऽपि, इत्यनेन एतत् उक्तं—*in Spandakārikā also it has been explained in the following verse:-*

इयमेवामृतप्राप्तिः—*this alone is said to be achievement of real nectar leading to immortality*, अयमेवात्मनो ग्रहः—*this is said to be one pointedness of thought*, इयं निर्वाण दीक्षा—*this is the initiation of liberation* च—*and*, शिव-सद्भाव दायिनी—*leading to identity with śiva*, तत्र हि—*in this verse of Spanda*, आत्मनो ग्रहणं—*ग्रहो ज्ञानं एतदेव—the knowledge of oneself is that*, यत् विश्वात्मक शिवाभिन्नत्वं—*just becoming one with universal 'I'*, एषोऽपि अर्थो विवक्षितः—*In this way the second meaning also of this verse is explained by Masters,*

किञ्च अस्य —*for such a yogi :-*

लोकानन्दः समाधिसुखम् ॥१८॥

*Lokānandaḥ Samādhi Sukham*

The joy of the Samādhi is said to be injection of bliss or Ānanda for the whole universe. Or he has to remain in Samādhi that will carry the whole universe to god consciousness.

लोक्यते इति लोको-वस्तुग्रामः; लोकयति इति च लोकः-ग्राहकवर्गः; तस्मिन् स्फुरति सति

ग्राह्यग्राहक संवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम्।

योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता॥

इति श्री विज्ञानभट्टारक निरूपित नीत्या प्रमातृपद विश्रान्ति अवधानान्तः चमत्कारमयो य आनन्दः एतदेव अस्य समाधिसुखम्। तदुक्तं तत्रैव—

सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत्।

युगपत् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत्॥ इति।



एतत् च-

इयमेवामृत प्राप्तिः अयमेवात्मनो ग्रहः।

इयं निर्वाणदीक्षा च शिव सत् भाव दायिनी।

इत्यनेन संगृहीतम्।

अथ च यत् अस्य-स्वात्मारामस्य, समाधि-सुखं, तदेव तत् तादृशं अवलोकयतां लोकानां आनन्द संक्रमण युक्त्या स्वानन्दाभिव्यक्ति पर्यवसायि भवति। एतत् अपि श्री चन्द्र ज्ञानग्रन्थेन प्रागुक्तेन सुसंवादम्॥१८॥

लोक्यते इति लोको वस्तुग्रामः—The perceiver and what ever object is perceived both are said लोक। लोकयति इति लोकः ग्राहक वर्गः—when objective and subjective world are said to be लोक, तस्मिन् स्फुरति सति—when they are in movement together then what happens that, ग्रह्य ग्राहक संवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनां—all individual beings feel all subjective world separate from objective world and objective world separate from subjective world, योगिनां तु विशेषोऽयं—there is exception for yogi, he perceives objective world at the time of perceiving subjective world and subjective world at the time of perceiving objective world, सम्बन्धे सावधानता—awareness of God-consciousness is said to him every where, because his subjective consciousness is held every where, इति श्री विज्ञानभट्टारक निरूपित नीत्या—according to such sayings of vijñāna bhairava, प्रमातृ पद विश्रान्ति—when he resides in the state of subjectivity, अवधानान्तः—with full awareness, चमत्कारमयो य आनन्दः—bliss of the pure consciousness, एतदेव अस्य समाधि सुखं—this is to be said the joy of his Samādhi, तदुक्तं—as is said again, तत्रैव—in Vijñāna bhairava that when a yogi, स्मरेत्—meditates on सर्वजगत्—the whole universe, स्वदेहं वा—or on his body, स्वानन्दभरितं—with fullness of supreme joy of self, युगपत्—simultaneously स्वामृतेनैव—by the flow of that joy, परानन्दमयो भवेत्—he becomes one with that supreme joy, एतत् च इत्यनेन संगृहीतं—this very idea has been explained in the following verse of Spanda kārika that, इयमेवामृत प्राप्तिः—this alone is said to be the achievement of real nectar leading to immortality, this is said to be one pointedness of thought,



this is the initiation of liberation and leading to identity with Śiva, अथच यत् अस्य स्वात्मारामस्य—whenever this yogi who always resides in his own self what is said to be his real joy or enjoying the bliss of Samādhi, तदेव—that bliss of Samādhi, तत्तादृशं अवलोकयतां लोकानां—to on lookers who look to that Samādhi sukha, आनन्द संक्रमण युक्त्या—by way of penetration of that bliss of yogi, स्वानन्दाभिव्यक्ति पर्यवसायी भवति—in the nature of another person who sees that yogi in Samādhi, his bliss pervades in full to another person who witnesses his extreme joy of समाधि—just when we see a cobra from a distance the poison of cobra will enter instantly to an onlooker. This has been explained in Śrī Candrajñāna also. (See Sūtras no. 7)

When the perceiver and the perceived, both are said to be in movement together then all individual beings feel subjective world and objective world separately, but there is an exception for yogis, they perceive objective world at the time of perceiving subjective world and vice-versa because the awareness of God-consciousness is said to be every where for them. According to such sayings of Vijñāna-bhairava when they reside in the state of subjectivity with full awareness that is said to be the joy of their Samādhi. As is explained again in Vijñāna-bhairava that when a yogi simultaneously meditates on the whole universe or on his own body, with fullness of supreme joy of self, by the flow of that joy, he becomes one with that supreme joy. This very idea has been explained in Spanda kārikā also, where it is said that this supreme joy alone is said to be achievement of real nectar leading to immortality, and leading to identity with Śiva. When ever this type of yogi, who is said to be residing in his nature or enjoys the bliss of Samādhi looks on anyone whosoever he may be, he or she too will instantaneously enjoy the bliss of his Samādhi. Just like a venamons cobra from distant place affects with its venom to an onlooker, similarly this type of yogi also penetrates another person by his supreme bliss of Samādhi.

(To be continued)





## GOPINATH KAVIRAJ ON PŪRṆA

*Patrāvali No. 47, written on 2.1.1945*

*Translation From Bengali into English by*

*Dr. H.N. Chakravarty*

*Om pūrṇamadaḥ pūrṇamidam pūrṇat pūrṇamuducyate /  
Pūrṇasya pūrṇamādāya pūrṇamevāvaśiṣyate //*

The above verse tries to describe the real nature of *pūrṇa*. Indeed, the true nature of *pūrṇa* is beyond the concept of worldly knowledge. Though an effort has been made to present a slight glimpse of it by means of various indications, the human intellect is unable to receive it.

That which is known as plenitude, *Pūrṇa*, never condescends to the level of decreasing. Waxing and waning, increasing and decreasing, issuing from a source or decreasing in the process fails to touch it. This perfect fullness remains as an everlasting state of self-luminous existence, always shining everywhere as a partless singleness of Being. Creation and dissolution, basing themselves on it, express themselves as the sport of dynamic energy, but the one which is perfectly full, though appearing as possessed of *śakti* on account of the play of *śakti*, remains ever shining, transcending *līlā* or sport.

The terms *adaḥ* and *idam* indicate the states both remote and adjacent. Whatever is conceived by the senses is known as 'this' (*idam*), while what is beyond the senses is known as 'that' (*adaḥ*). Generally, by the gradual development of the power abiding in the senses, the thing that exists beyond the senses becomes the object of the senses. This is the result of action (*kriyā*). In the same way, but in reverse, that which once remained perceptible becomes imperceptible and remains a thing beyond the senses. Indeed, it is very difficult to say which is perceptible to the senses and which is nonperceptible to them. Therefore, by the contractive of the dynamic energy and the expansion of it, the perceptible thing expresses itself as the thing beyond the senses, and in the same way the nonperceptible thing shines as an object of the senses. But if we look to the absolute, it is easy to conceive that beyond the contraction and expansion of *śakti* the Reality (*svarūpa*) remains the same. This *svarūpa* is *Pūrṇa*, which is unchangeable.

That which is perceptible is termed *loka*, the realm, because it is the



sphere that is illuminated; that which is beyond the senses is denoted by the term *aloka*, for it is not illuminated. In this view the entire universe is seen in a twofold way, which is described as *loka* and *aloka*. In our common language we speak of the present world and the other world (*ihaloka* and *paraloka*), but the reality is that they are the two aspects of the aforesaid *loka* mentioned with reference to *lokāloka*. -When one aspect remains manifest to the sense organs at a certain period with reference to a certain person, that very aspect is conceived by the person as the present world, while the aspect contrary to it is conceived as the other world. The one which is partless and perfectly full known as the Reality exists without being conditioned by time and space while abiding in infinite objects without undergoing any limitation. This is the Supreme Reality known as *pūrṇa*. Though One it is infinite, because though it is not related to any particular space, it shines everywhere differently, but even then though shining everywhere differently it remains without undergoing any change or fragmentation. It exists as It is. The right understanding of *pūrṇa* should be conceived in the above way. When right understanding of the above truth is acquired, then it is realized that the real truth of *pūrṇa* abides nondifferently and equally everywhere. Not only that, it is similar in this world and also in the other world. One can conceive it by the senses, and it is also realized in the region where the senses cannot reach. It is one and inseparable. The philosopher, while viewing the object of the senses, says that everything is 'that,' that is, the perfect One. It means, further, that whatever is seen by the eyes is *pūrṇa*, whatever is heard by the ears is also *pūrṇa*, similarly things that are received by other sense organs are also *pūrṇa*. In another way it can be stated that forms, tastes, and sounds are *pūrṇa*. The one *pūrṇa* remains in every outlet of the sense organs, manifesting Itself. But as against contradicting this idea philosophers assert that the truth of *pūrṇa* is beyond the grasp of the sense organs. It is beyond eyes, ears, and all senses, that is, it is *arūpa*, *aśabda*, *asparśa*. Therefore, unless one adopts the process of negation, "neti", not this, not this, it is quite inconceivable.

Looking back to the citation from the Upaniṣad, the phrase *pūrṇamidam* signifies that the one *pūrṇa* shines as 'this,' that is, as an object of sense perception. Similarly, the phrase *pūrṇamadaḥ* signifies



that *pūrṇa* is beyond perception. Both are true. The *pūrṇa* is both perceptible and imperceptible at the same time. It is with a form and without any form at the same time. It is with attributes and without any attribute, near and remote, both immanent and transcendent. The perfect *pūrṇa* is nondual and partless. It is indeed one, not two. The source and what, emerges from are indeed one and the same. Both are equally *pūrṇa*. As in mathematics, when any number, finite or infinite, is deducted from the infinite, the infinite remains infinite. This analogy is similar to the above concept of *pūrṇa*. The current that flows out of *pūrṇa* and the thing that emerges are *pūrṇa*; even then *pūrṇa* does not diminish because It does not undergo any change.

A question may be raised here. How is this possible ? The reply is that is the play of the One to become many, just as the single moon is reflected in mirrors as thousand moons. To become a thousand is nothing but a sport. Each of the thousand moons is nothing but that one single moon. The single moon multiplied by a thousand appears as a thousand. When one appears in multiplication, the infinite one becomes manifest. This is indeed known as the creation of *līlā*, play. Just as the one, that is, the original one, is one, in the same way the multiplied one is also one. There lies no difference. But this truth is only unveiled to one who knows the truth rightly; those who are ignorant fail to understand it. Similarly, whatever may be added to *pūrṇa*, whether it is a-*pūrṇa* or a *pūrṇa*, the true nature of *pūrṇa* does not change. When a limited number is added to the infinite or even when the infinite number is added, the result is infinite - it is similar to that. *Pūrṇa* is *pūrṇa* externally and internally as well. For example, if the *pūrṇa* from outside taken inside, the *pūrṇa* inside does not grow bigger; similarly the *pūrṇa* outside does not become lesser. The inner *pūrṇa* remains full as before, similarly the *pūrṇa* outside remains full in the same way. The truth is that *pūrṇa* is not two but one, which remains in both. Though it is beyond time and space, it remains everywhere detached. Similarly, though it is beyond threefold time, it remains in each distinctive time equally. *Pūrṇa* does not have any sequential development that undergoes development in future and passes through the present and flows toward the past as a current - this is not at all *pūrṇa*. Therefore it is stated: It is beyond Evolution.

Courtesy—Abhiṣiktānanda Society, New Delhi



## TANTRIC SYSTEM IN BUDDHISM

– Dr. Wang Chuk Dorje Negi  
C I H T S, Sarnath

Buddha, after attaining enlightenment, turned the wheel of dharma in the world three times. He turned the first wheel of dharma at Sarnath, where he taught the "Four Noble Truths", emphasizing the true existence of all phenomena. This was based on the principles of Srāvākāyāna (Hināyāna). The second turning of the wheel was at Grdhrakuta where he preached on prajnaparamita, emphasizing emptiness which refers to the non-existence of all phenomena or their emptiness of true existence. This was based on the tenet of Bodhisattvayana or Mahāyāna. And the third turning, occurred at various places such as Vaiśālī. At that time he taught the distinction between "what is true existence and what is not." However, while Buddha was preaching the prajnaparamita, he simultaneously emanated himself in the form of kālacakra at a place called Dhanyakataka in South India. He also gave the kālacakra teaching to Sucandra who was the king of Shambala. In general, the essence of Buddha's teachings are included in these three aspects of the mind—'Mind' 'does not exist of its own', 'its nature and experience are clear'. Here, mind is temporarily, deluded by adventitious afflictions; and this delusion known as the cause of all suffering, through this cause, suffering take place and path is the antidote to remove it. As soon as the path is well trained cessation which is known as the result is obtained, and mind does not exist of its own refers to voidness and the clarity refers to the luminosity which is known as Buddha nature. The aforesaid Buddha nature permeates all sentient beings.

As mentioned in Samadhirajasutra. "Tathagatagarbha embraces and permeates all beings". It is also said in the Mahaparinirvanasutra: "All sentient beings are endowed with the Tathagatagarbha. Just as butter permeates milk, so does Tathagatagarbha permeates all beings". This Tathagatagarbha can be referred to in other words as well: Innate nature, primordial nature, Samantabhadra, Mahamudra, Great Consummation, Tantra, Great Sūnyata and so on, Hence, according to peoples", dispositions and ability, it is explained accordingly.



In this situation, we need to dig deep to find out about reality, since reality is more important than history and legend. If we turn the pages composed by some great individuals we will find that they have emphasized real matter and subject, not history and legend. Similarly, the matter of tantra is the same. It is also such something which can't be bound by history. Even these days, one who has the ability to meet the Bodhisattva and Buddhahood, can also find a new and extraordinary system. So, the main thing is to see whether you have the ability to understand and practice it or not.

Now comes the real matter: "Tantra". What is Tantra? Tantra literally means 'continuity', 'Continuum'. There is a continuous thread running since beginningless time. Usually we think of a thread as starting from somewhere. But according to Buddhism, the thread has no beginning just as there is no beginning of time and space and therefore the continuity is such a thread that does not even inherently exist but at the same time is continuous. As it is said in the Guhyasamajātāntra :

प्रबन्धं तन्त्रमाख्यातं तत्प्रबन्धं त्रिधा भवेत्।

आधारः प्रकृतिश्चैव असंहार्यप्रभेदतः॥

प्रकृतिश्चाकृतेहेतुरसंहार्यफलं तथा।

आधारस्तु उपायश्च त्रिविधस्तन्त्रार्थसंग्रहः॥ (१८.३४-३५)

"Prabandham is known as tantra, of which there are three types: Base tantra, path tantra and result tantra."

(1) **Base Tantra** : Base tantra is the seed of the Result tantra. As it possesses the ability to bring forth fruit by connecting with other causes. If we analyze it properly we will find that the nature of the Base tantra is clear, but is temporarily obstructed by adventitious defilements. Dharmakirti says the nature of mind is clear light; the defilements are adventitious, and once the defilements don't subsist in the nature of the mind, it is possible to remove them through generating an antidote if we remove the very stage which we called Buddha. So, in view of the predicable matter, this mind is known as the Base tantra. As said in the HeVajratāntra:

सत्त्वा बुद्धा एव किन्तु आगन्तुकमलावृताः।

तस्यापकर्षणात् सत्त्वा बुद्धा एव न संशयः॥ (६-३.९)



In fact, the (mind of all) sentient beings are Buddha, but they are covered by adventitious defilements. If these are removed, then they will become real Buddhas.

(2) **Path Tantra** : The path tantra is said to be the path which causes one to remove the adventitious defilements in order to bring forth the nature of mind. As a seed needs water, sun, light, manure, etc. to bring forth its fruit, so does the path tantra need this method to bring forth the reality of mind. Therefore, initiations, instructions, oral-transmissions are the path tantra which, too, are the mind.

(3) **Result Tantra** : This is the luminous stage from beginningless time in an invisible manner. Its main function is to make apparent the clear form, as a fruit of a tree which exists in its cause and conditions and an invisible manner when is ripened it comes in to being. Likewise, depending on the 'Path tantra' our minds become clear from defilements and assume the forms of a Bodhi which is known as the 'Result Tantra'.

Generally the base tantra is the inseparable subtle wind and luminosity which is the base of all appearance. I think this is the main crux of tantra. Sometimes, this is referred as a five wisdom winds or energy which can't be separated from the clarity and its dynamic nature. It is like the fire and its warmth, or flower and its odor. In Tibetan, we use the term *Rlun-  
sems-dbyer-med*. This is Base tantra which is continuous from beginningless time. Path tantra is the generation stage, and completion stage which is of course not separate from Base tantra. Base tantra itself appears into divine clarity, fruition tantra is through two stages practice attending the two bodies (form and truth body) that is also not separate than Base tantra. So, Base tantra itself is path, path itself is base, base itself is fruit or fruit itself is base. There is a state of inseparableness of body, speech and mind or the base path and mind. As *Guhysamāja* states :

कायवाक्चित्तवज्रेण भेदाभेदस्वभावतः। (१८.३८)

The method for experiencing the very subtle wind and mind (*Rlun-sems-dbyer-med*) is explained fully in the teaching of secret higher Yogatantra. Why is this? It is because we can attain enlightenment in this very life if we depend upon this very subtle mind and its mounted wind.



The very subtle mind is the substantial cause of the Truth Body of the "Buddha, and the very subtle mind upon which it is mounted is the substantial cause of the form body of the Buddha. Without using the subtle mind it is not possible to attain the perfect enlightenment of Buddhahood. The ability of a mind to function depends upon its mounted wind. If the wind is impure, the mind mounted upon it will also be impure. On the other hand, if it is a wisdom wind, the mind mounted upon it will also be a wisdom mind. The wind that flows within the right and left channels and that which flows throughout all the seventy two thousand channels of the body, all cause dualistic conceptions to arise. The wind that flows within the central channel, however, is the wisdom wind, so called because the Yogis develop their wisdom minds from it. All wisdom minds must be mounted upon wisdom winds. It is essential to bring all the winds into the central channel. The only way to catch or control the mind is through catching their base. So, in this context, Rangjung Dorjee says, "you can't find fire through cutting wood into pieces. It can only be achieved by rubbing them together. Likewise, thought alone is not enough to enable one to realize the nature of mind, but we can know luminosity through practicing inhâlation and exhalation practice through vase meditation. As normative of the Vajrayana, practices through generation and consummation stage.

### **Characteristic of Tantra Vehicle**

In order to achieve Buddhahood we must know how to ascertain the two bases, how to practice the two paths. And relying on the practices, how to achieve the goal which is said to be the two bodies of Buddha. According to the perfection path, the base of all doctrines and practices are the two truths : Conventional truth and Ultimate truth. As mentioned in Nagarjuna's text *Mādhyamakāśāstra* :

*Doctrines taught by the Buddha*

*Are perfectly founded on the two truths.*

At the same time he also mentioned how to attain the two bodies of the Buddha through the two paths. As mentioned in the *Ratnavali* (1) (Precious Garland) :



*The form body of the Buddha*

*Arises from collected merit*

*The truth body in brief, O king.*

*Arises from collected wisdom.*

It can be explained that the collection of merits which principally assists in attaining the body of the Buddha is known as the Buddha's form body. On the other hand, the collection of wisdom which principally assists one in attaining a kind of body is known as wisdom truth body. The nature of ultimate truth is similar to the perfection vehicle. The great Tibetan saint Mila Respa also said in tantra that ultimate truth should not be different from the causal vehicle. If so the ultimate truth will fall into contrived and thought perception. But the ultimate truth is beyond of all thoughts. Nagarjuna defines the ultimate nature

*Not dependent on another, peaceful and*

*not fabricated by mental fabrication,*

*not thought, without distinctions,*

*that is the character of reality.*

The state of peace transcending all fabrication is śūnyatā-voidness. Atisha also says :

*Where emptiness is concerned*

*there is not even one division.*

*Thus, to conclude as the Buddha says:*

*Where there is no rejection, acceptance or  
grasping of any aspect of reality.*

*There is meditation on the wisdom-gone-beyond.*

*Noncontemplation and nonimagery are such meditations.*

Now the division of perfection vehicle and mantra vehicle is made by method. As said before, the path is included within the factor of method which is the very thing for achieving the Buddha's form body. Whereas the path included within the factor of wisdom (emptiness meditation) is the means for achieving Buddha's truth body. To achieve a truth body one needs to cultivate a path which should be similar in aspect to a truth body.



Both the perfection and mantra vehicle have a path of wisdom in which one cultivates a similitude of the Buddha's truth body. Similarly, in order to achieve a form body one needs to cultivate a path that is similar in aspect to the Buddha's form body. Only mantra vehicle has this special method for achieving this fruit by cultivating paths which are similar in aspect to the Buddha's form body. That is why this vehicle is known as an effect vehicle.

### **Synonyms of Mantrayāna**

With respect to the 'Secret Mantra Vehicle', the matter of Secret Mantra Vehicle' is always hidden because it is achieved secretly and in hiding : it is not appropriate to be displayed like merchandise but should be practiced secretly. If it is not so, instead of there being benefit there is a danger of harming beings due to generating misunderstanding. It is practiced in order to achieve the activities of pacification, increase, power and wrath. These are not described in the 'Perfect Vehicle.' Hence, the vehicle in which the practices are performed in secrecy is known as the 'Secret Mantra Vehicle'. Generally, the word 'mantra' refers to 'mind protection'. It protects our mind from ordinary appearances and conceptions. Here, mind refers to six consciousness which are to be freed or protected from the ordinary world. There are two factors in mantra training, pride in oneself as a deity and vivid appearance of that deity. Divine pride protects one from the pride of being ordinary, and divine vivid appearance protects one from ordinary appearance. Whatever appears to the senses is viewed as the sport of a deity: for instance, whatever forms, are seen are viewed as the emanation of a deity and whatever sounds are heard are viewed as mantra of deity, through this transformation of attitude the pride of being a deity emerge. Such protection of mind together with its attendant pledge and vows are called the practice of mantra. As said in the Guhyasamājatantra also: Mind arising dependent on a sense and an object is said to be 'Man', 'Tra' means protection by means of all Vajras of the pledges and vows explained free from the ways of the world called 'the practice of Mantra'.

In another way we can explain that 'Man' is said to be knowledge of suchness, and 'Tra' be the compassion that protects those sentient-beings.



As said in the Guhyasamājatantra –

प्रतीत्योत्पद्यते यद्यदिन्द्रियैर्विषयैर्मनः।

तन्मनो मननं ख्यातं कारकत्राणनार्थतः॥ (गु०स०, १८.६९)

With respect to the Bodhisattva Vehicle, it is divided into two; a cause vehicle of the grounds and perfection, and an effect vehicle of secret mantra. Thus, 'Secret Mantra Vehicle,' 'Effect Vehicle,' and 'Vajra Vehicle' are the synonyms of the Mantra Vehicle which is also called the 'Method Vehicle.' it is said: Because of the indivisibility of the vajra vehicle because just the effect became the path, it is the effect vehicle, because of the greatness of its methods, it is the method vehicle. Because of its extreme secrecy, it is the secret vehicle. On the other hand Sraddhakaravarma says: It is an effect vehicle because a path of imagination is practiced. In this one assumes the aspects of the four through purifications:—

(1) the abode where Buddha resides after the perfect enlightenment.  
(2) the body that is a manifestation of the wisdom truth body in the form of a residence and resident, (3) the resources that are enjoyed in the high status of Buddhahood, and (4) the supreme activities of Buddhas ripening sentient-beings. Similitude of these four factors of the effect state are cultivated in meditation. So this is called the Effect Vehicle.

Method Vehicle : Since the Mantra Vehicle has more varieties of methods or skillful means than the Perfection Vehicle, it is called the Method Vehicle.

As said by Tripitakakamala :

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहुपायाददुष्करात्।

तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते॥

*Though the aim is the same, mantra vehicle*

*Is superior because of being for the non-obscured,*

*Having many skillful methods, no-difficulties, and*

*Being designed for those of sharp faculties.*

The objector himself asserts that this means that the aim of attain-



ment of the Mantra and perfect in vehicle is the same that is, Buddhahood. The mere differences between these two yānas (Vehicles) must be made in terms of the causes that are the methods for attaining the effect—the state of Buddhahood.

### **Literal meanings of four schools of the t̃āntric tradition**

Now I would like to explain the four Tantra (1) Action Tantras are so called because the activities which are to be performed are predominant. (2) Performance Tantras are so called because activities and meditative stabilization are performed equally. (3) Yoga Tantras are those so called because internal yoga is very central. (4) And lastly, Higher Yoga Tantras are so called because there are not higher yogas than this. On the other hand, “Kong-Trul Rinpoche” says: Those who have little capacity for meditation on suchness but are mainly involved in external activities are action tantras. Tantras are assigned as performance if they teach internal meditative stabilization and external activities equally. The Tantra in which there are explained four mudras, is generally called Yoga Tantra, and at last, where it has been taught about two states to their sphere of purification namely birth, death and intermediate state through generation and consummation, is the Higher Yoga Tantra.

In contrast to this, Higher Yoga Tantra should be divided into three sub-classifications: Father, Mother and Non-dual tantra. According to Pad-ma-karpo's General presentation of Tantra sets, captivating the Wise it is said : The tantra practiced through five stages is known as Father Tantra. Like Guhyasamāja, the tantra which is practiced in two stages through the four mudras is known as Mother Tantra. It is mainly based on the Hevajra tantra. And lastly, the tantra which is practiced through six yogas is called a Non-dual Yoga Tantra, such as Kalacakra tantra Sādhana.

The practice for the above mentioned tantra is not possible without having initiation. Buddha said practicing Tantra without obtaining initiation is like trying to extract oil from sand. Therefore, each tantra has its own initiation.

Before doing practice of the path we need to have proper empower-



ment, scriptural transmission and explanations. These three are the main elements of Vajrayāna practice. These all three transmissions must have been uninterrupted from your lineage Gurus. If an electric wire has been cut at a certain point, you will not receive light in your room. In the same way if the transmission had been interrupted you would not receive the blessing without which Vajrayāna cannot be effective. To practice Vajrayāna, ideally you should receive a complete empowerment, including four sub-divisions : First the vase initiation by which your impure body is transformed into pure, divine body. Second the secret initiation by which your impure speech is transformed into the pure speech of a deity i.e. mantra : third, the wisdom awareness initiation, which transforms your impure mind into the pure mind of the deity and lastly, through the fourth initiation the body, speech and mind are simultaneously purified and the five Buddha and the five primordial awarenesses are realized. Of course initiation itself is not enough in order to be able to do the actual practice. For this you have to receive specific explanations. This only is the way to practice Vajrayāna. If you practice in this way you can achieve enlightenment in this very life, so the uninterrupted transmission of your root Guru is like a lens for example and the Buddha's and Bodhisattva's, blessings are like a sun. Even when the sun is very hot, it is not enough to burn a piece of paper or material on the ground, but if you place a lens between the sun and the paper on material, it will be burnt very quickly. Even if the sun is same as before. Therefore if we do according to Guru instruction we can achieve the Buddhahood in this very life. So, Vajrayāna is a very quick way. These are a few of the characteristics of the Vajrayāna.

*This paper was read at an Inter-religions Retreat Seminar  
on Śūnya-pūrṇata and Pleroma,  
conducted by Abhiṣiktānand Society of New Delhi  
at Sarnath Varanasi from December 11-16, 1999.  
Courtesy—Abhiṣiktānanda Society, New Delhi*





## THINK IT OVER

वरमेकान्त दाहेषु लुठनं रौरवाग्निषु।  
न त्वालूनविवर्तासु स्थितं संसार वृत्तिषु॥

It is better to get oneself burnt in concentrated hell fires than suffer through the enterprises of Samsāra where one is tossed up and down by pain and grief.

अकृत्रिम महादुःखे संसारे ये व्यवस्थिताः।  
त एतेऽन्यानि दुःखानि जानते मधुराण्यलम्॥

Those unfortunate beings who have fallen into the terrible great pains and sorrows of Samsara, they will certainly consider all other sufferings as very sweet enjoyments.

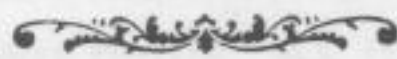
प्रबुद्धोऽस्मि प्रहृष्टोऽस्मि दृष्टचोरोऽयमात्मनः।  
मनो नाम निहन्येनं मनसास्मि चिरं हतः॥

Oh ! Now I have opened my eyes. Now I am happy. Now the thief who steals the Atman is found out. This mind is the thief. I shall kill him now. Since long I have been troubled by this thief.

क्रिया शरीरोद्भव हेतुरादृता  
प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुराणिः।  
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं  
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः॥

All works lead to further bondage and rebirth. Due to love and hatred these actions appear to be different from one another. Man does good and bad actions through attachment and thus gets more and more births. There is again action after rebirth. In this way the course of worldly life revolves like a wheel.

- ( Gems from Sarva Geetasar )





## विज्ञानभैरव-समीक्षात्मक अध्ययन

मूल प्रवचनकार

शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मणजू महाराज

(गतांक से आगे)

पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद् भावयेत् च यः।

शरीर निरपेक्षिण्या शक्त्या शून्यमना भवेत्॥४४॥

(अन्वय-यश्च (साधकः) पृष्ठशून्यं मूलशून्यं च युगपद् भावयेत् (ततः सः अनया भावनया) शरीर निरपेक्षिण्या शक्त्या शून्यमना भवेत्।)

जो साधक शरीराधार पर निर्भर न रहने वाली शक्ति के बल से, एक साथ पृष्ठ शून्य और अधः शून्य अर्थात् पीछे आगे, दाहिने बायें, ऊपर नीचे सब ओर शून्य की भावना करे उसका मन शून्यावस्था को प्राप्त करता है॥

आणवोपाय को जरा सी छूती हुई यह शाम्भवोपाय साधना है।

आपने सर्वप्रथम यह मानना है कि आपके ऊपर और शरीर के नीचे शून्यता है। तत् पश्चात् अपने शरीर को पाने का प्रयत्न करे। पर आप जब ऐसा करने बैठोगे तो आप अपने शरीर की सत्ता को नहीं पावोगे। आपका शरीर अविद्यमान जब होगा तो यह एक धारणा होगी और यह विधि संपूर्ण होगी। यह शून्यता की एकतानता को प्रखर रूप से रखने का उपक्रम है। जब आप ऐसा कर सकोगे तो आपका शरीर ऊपर-नीचे, दायें-बायें, पीछे-आगे सब ओर शून्य ही शून्य होगा। केवल तीस मिनट तक इस विधि को अपनाने से आपको ज्ञात होगा कि आपका शरीर शून्य है। क्योंकि जब कोई आधार आपके शरीर का नहीं होगा तो वहां शून्यता ही दिखेगी। तो आपका शरीर कहां ठहरेगा? ऊपर से भी रिक्तता की प्रतीति से वहां भी शून्यता नजर आयेगी। आपका शरीर दृष्टि गोचर नहीं होगा यदि ऐसा नहीं होगा तो यह विधि अपूर्ण होगी। अतः यह शाम्भवोपाय है। पर आणवोपाय की भी छुआछुई है। ऊपर-नीचे दोनों शून्यों पर एकसाथ समाहित चित्त रहना है।

युगपत् भावयेत् च-एक साथ भावना करें।

शरीर निरपेक्षिण्या शक्त्या-उस शक्ति से जो आपके शरीर को अदृश्य होने के लिए बाध्य करती है।

अदृश्य होने का तात्पर्य विगलन नहीं है। जब आप किसी को पाने का प्रयत्न करते हैं तो वह दिखता नहीं। अतः आपकी देह अदृश्य है। शरीर निरपेक्षिण्या शक्त्या से तात्पर्य



यह है कि वह बाद में परमशिव की शून्यता में प्रवेश पाता है। क्या यह आणवोपाय साधना हैं क्योंकि यह पहले दो शून्यों पर चित्त स्थिर करना है। पर जब ये दोशून्य शरीर के अदृश्य होने पर एक ही शून्य बन जायेंगे तो ऐसा साधक शून्यता पर धारणा देगा। किसी शिष्य के इस धारणा के विषय में पूछने पर स्वामी जी महाराज कहते हैं कि यही शाम्भवोपाय है। जैसा कि आरम्भ में समझाया है कि आणवोपाय को भी जरा सा छूती हुई यह धारणा शाम्भवोपाय की ओर उन्मुख होती है॥

**पृष्ठशून्यं मूलशून्यं हृच्छून्यं भावयेत् स्थिरम्।**

**युगपत् निर्विकल्पत्वात् निर्विकल्पोदयस्ततः॥४५॥**

(अन्वय—(यः साधकः) पृष्ठशून्यं, मूलशून्यं, हृत् शून्यं स्थिरं भावयेत्, ततः निर्विकल्पत्वात् युगपत् निर्विकल्पोदयः॥)

जो साधक पृष्ठशून्य, मूलशून्य और हृत् शून्य की अर्थात् ऊपर-नीचे, उत्तर-दक्षिण तथा हृदय शून्य की स्थिरता से भावना करता है फिर समस्त विचार जाल से विमुक्त होके उसे संकल्पविकल्प हीन अवस्था एकसाथ उदित होती है।

साधकको स्थिरता से एकसाथ यह भावना करनी चाहिए कि उसके शरीर का ऊपरिभाग शून्य है, तथा उसके शरीर का निचला भाग भी शून्य है (मूल शून्य)।

स्मरण रहे कि शरीर के ऊर्ध्व भाग में पर चैतन्य स्फार, निचले भाग में ग्राह्य वर्ग स्फार और मध्यभाग (हृदय में) में ज्ञेय वर्गस्फार पाया जाता है। पर हमें यह भावना करनी है कि यह सारा शून्य है अर्थात् शरीर के उपरोक्त तीनों भागों में शून्यता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब इस की प्रतीति एक साथ शरीर में होगी तभी निर्विकल्पावस्था का उदय होता है, (निर्विकल्पोदयस्ततः)॥

यह शाक्तोपाय है।

**तनूदेशे शून्यतैव क्षणमात्रं विभावयेत्।**

**निर्विकल्पं निर्विकल्पो निर्विकल्पस्वरूपभाक्॥४६॥**

(अन्वय—तनूदेशे शून्यतैव इति एतावत् मात्रं क्षणमपि निर्विकल्पं (मनः कृत्वा) विभावयेत्। (अनया भावनया) निर्विकल्पो (सन्) निर्विकल्पस्वरूप भाक् (जायते)॥)

यदि कोई साधक, विचार शून्य होके, शरीर के किसी भी बिन्दु को शून्यमात्र समझकर, थोड़े से समय के लिए भी उस पर ध्यान धरेगा तो संकल्प विकल्पातीत बने उसे (शिव के) निर्विकल्पस्वरूप की प्राप्ति होती है।



तनूदेशे—वह स्थान जहां आपका शरीर आसीन है। जरा मानो कि आपका वह आसन कहीं भी नहीं है।

क्षणमात्रं विभावयेत्—थोड़े से समय के लिए भावना करें।

आपने यह मानना है कि आपका शरीर कहीं पर भी आसीन नहीं है। अर्थात् इस विचार शून्य दशा में आप ने यह मानना है कि यद्यपि आप कहीं सुस्थित है फिर भी आप कहीं पर भी ठहरे नहीं है। आपका शरीर निराधार है और आपने मनसे सारे विचारों को त्यागना है। तत् पश्चात् निर्विकल्पावस्था उदित होती है। निरालम्ब होते ही अर्थात् आधार हीनता के पश्चात् ही समाधि की अवस्था प्राप्त हो सकती है।

यह शाक्तोपाय विधि से शाम्भवोपाय प्राप्ति की धारणा है।

सर्वं देहगतं द्रव्यं वियद् व्याप्तं मृगेक्षणे।

विभावयेत् ततः तस्य भावना सा स्थिरा भवेत्॥४७॥

(अन्वय—हे मृगेक्षणे! देहगतं सर्वं द्रव्यं वियद् व्याप्तं विभावयेत्। ततः तस्य सा भावना स्थिरा भवेत्॥)

हे सुन्दर नेत्रों वाली पार्वती! जिसके हृदय में पूर्वोक्त शून्यता की भावना सरलता से न स्थिर हो सके उसको चाहिये कि वह अपने शरीर में विद्यमान, मांस, अस्थि, मज्जा आदि सभी द्रव्यों (धातुओं) की शून्यरूप में भावना करे अर्थात् इस मेरे स्थूल शरीर के अन्दर शून्यता के अतिरिक्त कुछ भी विद्यमान नहीं है। इस तरह की भावना से शून्यभावना स्थिर करे ऐसा करने से उसके हृदय में प्रकाश का आविर्भाव हो जाता है अर्थात् साधक का हृदय प्रकाश से भर जाता है।

ततस्तस्य भावना स्थिरा भवेत्—फिर उसे शून्यता की भावना सुदृढ़ होती है। एवं वह समाधि की निर्विकल्पावस्था में प्रवेश पाता है।

यह पूर्ण शाक्तोपाय है।

देहान्तरे त्वग् विभागं भित्तिभूतं विचिन्तयेत्।

न किञ्चित् अन्तरे तस्य ध्यायन् अध्येय भाग् भवेत्॥४८॥

(अन्वय—देहान्तरे त्वग् विभागं भित्तिभूतं विचिन्तयेत्। तस्य अन्तरे न किञ्चित् अस्ति इति ध्यायन् अध्येय-भाग् भवेत्॥)

अपने शरीर में त्वचा के रूप में जो बाहरी भाग पाया जाता है, उसकी, दीवार के समान जड़ पदार्थ के रूप में भावना करे। त्वचा से ढके हुए शरीर के अन्दर कुछ भी साररूप नहीं



है ऐसा ध्यान करते-करते उस साधक को शिव प्राप्ति होती है। अर्थात् केवल प्रमाता ही सत् स्वभाव है शेष सब असत् है, इस सत्य को जानने वाला ही अप्रमेय को जान सकता है।

पूर्ववर्णित दोनों कारिकाओं (४७-४८) में एक ही धारणा दोहराई गई है।

**देहान्तरे त्वग् विभागं भित्तिभूतं**—आपने यह जानना है कि आपका शरीर त्वचारूपी दीवार से आवृत है और त्वचा ही इस का आधार है।

**न किञ्चित् अन्तरे तस्य**—शरीर के अन्दर मज्जा, अस्थि, वीर्य, रक्त, मांस आदि कुछ भी नहीं है। यह केवल अन्दर से शून्य ही शून्य है।

अथवा यह ध्यान करे कि आपके शरीर के अन्दर कुछ भी नहीं है। यह केवल बाहरी त्वचा दीवारों से समावृत है पर अन्दर से खाली है, जो साधक इस प्रकार साधना में विलीन होगा उसे परम पद की प्राप्ति सुगमता से होती है।

**अध्येय भाक्**—अध्येय का तात्पर्य है कि जो ज्ञाता है वह कभी ज्ञेय पद पर नहीं आता है। अर्थात् शिवभूमि भागी होता है।

यह शाक्तोपाय विधि से शाम्भवोपाय प्राप्ति की धारणा है।

**हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्म सम्पुट मध्यगः।**

**अनन्यचेताः सुभगे परं सौभाग्यं आप्नुयात्॥**

(अन्वय—हे सुभगे! हृद्याकाशे निलीनाक्षः पद्मसम्पुट मध्यगः (अतएव) अनन्यचेताः परं सौभाग्यं आप्नुयात्।)

हे पार्वती! हृदय में उत्पन्न हुए सुन्दर आकाश में अर्थात् प्राण और अपान के मध्यवर्ती स्थान सुषुम्ना नाडी के स्थान में, जिसका बाहिरी और अन्दर का इन्द्रिय चक्र लीन हो जाता है और जो अपनी भावना शक्ति से ऊर्ध्वस्थान और निम्नस्थान में वर्तमान पद्मों के सम्पुट के मध्य में प्रविष्ट हो चुका है अर्थात् प्रमाण और प्रमेयरूपी दो पद्मों के बीच चिन्मय प्रमाता स्वरूप में स्थित हो जाता है अतः केवल चिन्मात्रता में ही जिसका मन संलग्न है, वह योगी विश्वेश्वरतारूप परम आनन्द को प्राप्त करता है अर्थात् चित्त जब चित्प्रकाश से भर जाता है तो वह चित्प्रकाश से ही व्याप्त इस सारे विश्व को देख सकता है।

**सुभगे**—हे पार्वती! वह शक्ति जिसका विवेक हृद्याकाश पर प्रतिबिम्बित हुआ है।

**हृद्याकाशे**—जिसकी परिकल्पना उस हृद्याकाश में लीन हो जो दो पद्मों के बीच में (एक पद्म ऊपर की ओर मुखवाला दूसरा पद्म नीचे की ओर मुखवाला) उन दो के बीच



में (संपुट में) हृदयाकाश विद्यमान है। आकाश से केवल दृश्यमान गगन ही अभिप्रेत नहीं है।

**निलीनाक्षः**—जिसका ध्यान संपूर्ण रूप से पूर्ण हो अर्थात् बाह्य या आभ्यन्तर विचारों के हस्तक्षेप के बिना।

**अनन्यचेताः**—जब वह परिपूर्ण समाहितता को प्राप्त करता है, तो वह उस विभूति से सुशोभित होता है जो विभूति ईश्वरीय साम्राज्य की देन है, (परं सौभाग्यं आप्नुयात्)।

यह शाक्तोपाय धारणा है।

एक शिष्य के पूछने पर कि दो पद्यों के संपुट की क्या वास्तविकता है? तो स्वामी जी यह समझाकर उत्तर देते हैं कि समाधि में स्थित योगी को इन ऊर्ध्व और अधः पद्यों का स्फुट रूप से आभास होता है। अतः यह प्रक्रिया योगी बुद्धिगम्य है। योगी को वहां समाहित चित्त रहना पड़ता है।

क्रमशः



ओं अग्नाविष्णू सजोषसेमावर्धन्तु वां गिरः।

द्युम्नैर्वज्रेभिरागतम्॥

अग्नाविष्णू—O! Agni and Vishnu सजोषसौ (भवतां)—may both of you bring good will to me, इमां वर्धन्तु वां गिरः—let these words of praise of mine magnify you, द्युम्नैर्वज्रेभिः आगतम्—let both of you come here together having riches and food.

(Yajurveda)



## आचार्याभिनवगुप्तप्रणीतः षोडश-मातृका-धीश्वर-स्तवः।

भाषानुवाद

डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित

शाम्भवी योग साधना के इस “मातृका” नाम वाली प्रक्रिया के द्वारा स्वात्मरूपी शिव की सोलह प्रधान शक्तियों के सामर्थ्य का और फल का साक्षात् अनुभव हो जाता है। अपनी पारमेश्वरी शक्ति के इन सोलह स्वरूपों का साक्षात्कार शिवयोगी को “अ” से लेकर “अः” तक के सोलह स्वरों के माध्यम से हुआ करता है। तो ये सोलह स्वर शिव के सोलह स्वरूपों को अभिव्यक्त करते हैं। उन सोलहस्वरूपों में भिन्न-भिन्न सोलह शक्ति-स्पन्दों की प्रधानता होती है। उन शक्तिस्पन्दों के आधार बने हुए शिव के ये सोलह उपास्यस्वरूप शाम्भवी योगसाधना के विषय बनते हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ग्रन्थ की ‘विवृति-विमर्शिनी’ नामक टीका में आचार्य महोदय, एक-एक करते हुए, सोलह पद्यों के द्वारा की जाती हुई शिव के सोलह स्वरूपों की वन्दना को ग्रन्थ के सोलह प्रकरणों के प्रारम्भ में मङ्गलात्मकतया कर गए हैं। उन्ही सोलह पद्यों का यह स्तोत्र-रत्न है।

### अमृत

अवर्ण से अभिव्यक्त होने वाले अमृत नामक रुद्र की स्तुति में—

- १ अ. अमृतमनन्तमनुत्तरम् अघोरषोडशक-शक्ति-चक्र-गतम्।  
औन्मनसपदनिरूढि-प्रथमोपोद्धातकं वन्दे॥१॥

मैं उन्मना नामक शक्ति की स्थिति पर आरूढ होने की क्रिया के प्रारम्भिक सोपान (सीढ़ी) रूपी उस अनुत्तर-तत्त्व को प्रणाम करता हूँ, जो सोलह अघोर शक्तियों के मण्डल में ओत-प्रोत भाव से स्थित है, सदैव उत्पत्ति और लय से रहित है, जिसका न कहीं ओर है और न ही छोर है, तथा जिसके परे कोई और सत्ता है ही नहीं। इस स्थिति में प्रकाशमान परमेश्वर को सिद्धजन “अमृत” नाम देते आए हैं।

ऐसा अनुत्तर तत्त्व मातृका क्रम की उपासना में अवर्ण से अभिव्यक्त होता है। औन्मनस-पद से औकाररूपी मातृका वर्ण की ओर सङ्केत है।

आगे— आ-वर्ण से अभिव्यक्त होने वाले परमशिव के आनन्दात्मक स्वभाव का विमर्शन दूसरे पद्य से किया जा रहा है—



## अमृतपूर्णः

२ आ. आनन्दममृतपूर्णं सामनसे परपदे परं सत्यम्।

घटितानुत्तरदृढतम-निरूढि-भाजं शिवं वन्दे॥२॥

मैं शिव के उस परमसत्य स्वरूप को प्रणाम करता हूं जो (आ-वर्ण से अभिव्यक्त होने वाली) अमृत से परिपूर्ण आनन्दमयता को लेकर के समनात्मक पद पर सत्यरूपतया चमकते हुए अनुत्तर तत्त्व पर स्थिति को लेकर के पक्के तौर पर आरूढ़ होकर रहता है।

इस रूप को लेकर के अभिव्यक्त होते हुए परमशिव को सिद्धजन “अमृतपूर्णः” यह नाम देते रहे हैं।

आगे ‘इ’ वर्ण से अभिव्यक्त होने वाली इच्छाशक्ति से परिपूर्ण परमेश्वर की वन्दना इस तीसरे पद्य से की जा रही है—

## अमृताभः

३ इ. इच्छा-शक्ति-सुनिर्भरममृताभमनन्त-भुवन-जनन-पटुम्।

वन्दे स्वशक्ति-लहरी बहलित-भैरव-परानन्दम्॥३॥

मैं परमेश्वर के उस स्वरूप की सदैव वन्दना करता हूं, जो इच्छा शक्ति की प्रधानता से परिपूर्ण होता हुआ और अमृत की आभा को लेकर के चमकता हुआ तथा अनन्त भुवनों की सृष्टि करने में सिद्धहस्त होता हुआ, अपनी पारमेश्वरी शक्ति की लहरों से भैरवात्मक परम आनन्द को पूर्ण विकास में लाया करता है।

इस स्थिति में ठहरे हुए परमेश्वर को सिद्धों की भाषा में “अमृताभः” यह नाम दिया गया है। इस स्थिति में व्यापिनी शक्ति प्रधानतया चमक उठती है।

४ ई. परमेश्वर के जिस स्वरूप की अभिव्यंजना ई-वर्ण से हुआ करती है, उसमें ईशना नाम की पारमेश्वरी क्रिया की अभिव्यक्ति प्रधानतया हुआ करती है। ऐसी उस स्थिति में परमेश्वर को सिद्ध योगियों की भाषा में “अमृतद्रवः” यह नाम दिया गया है। इस रूप में परम शिव की स्तुति अगले इस पद्य के द्वारा की गई है—

## अमृतद्रवः

ईश्वरमशेष-ताप-प्रशमनममृतद्रवं सदा वन्दे।

अप्रतिघाति-स्वेच्छा-विकास-विश्रान्तममृतकर-मौलिम्॥४॥



मैं परमेश्वर के उस स्वरूप की सदैव वन्दना करता हूँ, जिसे सिद्ध परम्परा में “अमृतद्रवः” नाम दिया गया है और जो समस्त सन्तापों को शान्त करने वाला है तथा जो अपनी उस शक्ति पर विश्राम लेता रहता है जो शक्ति सदैव निरोधरहित इच्छा के रूप में विकसित होती रहती है।

ऐसी पारमेश्वरी स्थिति में शिव की कौण्डली नाम की शक्ति प्रधानतया चमका करती है।

- ५ उ. परमेश्वर के जिस स्वरूप की प्रधानतया अभिव्यक्ति ‘उ’ वर्ण से हुआ करती है, उस में उन्मेष नामवाला पारमेश्वर स्पन्दन मुख्यतया चमक उठता है। ऐसी पारमेश्वरी स्थिति को सिद्धों की भाषामें उन्मेष नाम दिया गया है। जिसकी स्तुति इस पांचवीं आर्या के द्वारा की जा रही है। इस स्थिति में अभिव्यक्त होने वाले परमेश्वर के स्वरूप को सिद्ध जन ‘अमृतौघ’ नाम दे गए हैं। जिसकी स्तुति अगली आर्या में इस तरह से की जा रही है—

### अमृतौघ

यदनुत्तरसम्बोधादानन्द-विकस्वरेच्छया पूर्णम्।

ईश्वरमुन्मिषदमृतौघसुन्दरं तत् स्तुवे धाम॥५॥

परमेश्वर का जो तेज अनुत्तर परतत्त्व के साक्षात्कार के फलस्वरूप-आनन्द से विकास में आई हुई पारमेश्वरी इच्छा की अभिव्यक्ति से परिपूर्ण बना रहता है और जो उदित होते हुए अमृत के प्रवाहों के द्वारा अतीव सुन्दर बना रहता है, उस ऐश्वर्य-पूर्ण तथा “अमृतौघ” नाम वाले पारमेश्वर-स्वरूप को मैं प्रणाम करता हूँ। सिद्धों की भाषा में इसे “ऊनता” नाम दिया गया है; क्योंकि स्रष्टव्य जगत् की बहिः सृष्टि की इच्छा से स्वात्मस्वरूप में ऐसी बहिः सृष्टि के विमर्शन से अपने में न्यूनता के आने की क्षणिक आशङ्का का भी आभास सा होने लगता है।

- ६ ऊ. ऊनता की ऐसी क्षणिक संवेदना से सम्पृक्त भैरवात्मक शक्तिस्पन्द की अनुभूति शैव सिद्धों को मातृका के छठे वर्ण “ऊ” के विमर्शन के साथ-साथ हुआ करती है। तदनुसार उस स्थिति की स्फुट अभिव्यक्ति शिवयोगियों को मातृकोपासना में “ऊ” वर्ण के विमर्श से ओत-प्रोत बनी हुई स्वात्मसंवित् के विमर्शन से हुआ करती है। ऐसी स्थिति के प्रति तनिक भर संकेत मातृका के इस छठे वर्ण के विमर्शन के द्वारा किया जा रहा है—



## अमृतोर्मिः

अहमानन्दघनेच्छा-घटितेश्वरतोन्मिषत्-समस्तोर्मिः।

इत्युल्लास-तरङ्गितममृतोर्मिमहं चिदर्णवं वन्दे॥६॥

शुद्ध अहं विमर्श के आनन्द से सर्वथा ओतप्रोत बनी हुई इच्छा के बल से उल्लास में लाई गई (अपनी) परमेश्वरता के द्वारा समस्त प्रपञ्चरूपी लहरों को (बहिर्मुखतया) तरङ्गित करते हुए और अमृतोर्मि नाम से उपास्यमान चैतन्य के समुद्र को मैं प्रणाम करता हूँ।

इस स्थिति में परमशिव को “अमृतोर्मि” नाम दिया गया है।

क्षणिक हिचखिचाहट जैसे आभास के प्रभाव से विश्वसृष्टि के अग्रिम विकास के प्रति ज़रा-ज़रा भर विलम्ब का भी आभास हो जाता है। वैसी स्थिति में परमशिव बाह्य सृष्टि के प्रति अपनी इच्छा का पुनः-पुनः विमर्शन करता हुआ अगले चार स्वरवर्णों से अभिव्यक्त होती हुई स्थितियों में चमक उठता है। ऐसी स्थितियों में न तो किसी अग्रिम सृष्टि का ही प्रसार होता है और न ही उसके प्रति अवहेलना ही आभासित होती है। विश्व विकास के इस सोपान पर पारमेश्वरी संवित् चार अवान्तर स्थितियों में प्रकट होती रहती है। वही चार स्थितियां अगले चार स्वरवर्णों के स्पन्दन के विमर्शन से अभिव्यक्त होती है।— इन चार वर्णों से आगे किसी व्यंजन वर्ण की सृष्टि नहीं होती है अतः इन्हें षण्ढ वर्ण या षण्ठ भी कहते हैं। ये चार वर्ण हैं ऋ, ॠ, लृ और लृ

७ ऋ. सातवीं आर्या के द्वारा ऋ वर्ण से अभिव्यक्त होने वाली अमृतमयी स्वात्म-अनुभूति का विमर्शन इस तरह से किया गया है—

## अमृतस्यन्दन

स्वप्रसर-प्रेङ्खित-विलसदूर्मि-संक्षुभित-चिद्रसापूरम्।

अमृत-स्पन्दन-सारं भैरव-संविन्महार्णवं वन्दे॥७॥

स्वात्म-प्रसार से उच्छलित होती हुई, तथा विलास करती हुई लहरों के द्वारा चिदानन्द को बाहिर छलकाते हुए उस भैरवात्मक अमृतमय महान् समुद्र को मैं प्रणाम करता हूँ, जिसका सारभूत स्वभाव ही ऐसा है कि अमृत को बाहिर छलकाता रहता है।



इस स्थिति में परमशिव को “अमृतस्यन्दनः” ऐसा नाम सिद्धों की परम्परा में दिया गया है।

आगे आठवीं आर्या के द्वारा ऋ वर्ण से अभिव्यक्त होने वाली पारमेश्वरी स्थिति की स्तुति इस तरह से की जा रही है—

### अमृताङ्गद

८ ऋ. पूर्व यदनुत्तरममृत-भूमिमासाद्य सप्तमीं कलनाम्।

विश्राम्यति तत् प्रणमाम्यमृताङ्गदं परानन्दि ॥८॥

जो अनुत्तर तत्त्व पहले सातवीं कलना के रूप में अमृतभूमि को प्राप्त कर के आगे (आठवीं कलना पर) विश्राम लेता है, उस परम आनन्द का स्वाद लेने वाले (परम आनन्द के भोगी), अमृताङ्गद नाम के परमशिव को मैं प्रणाम करता हूँ।

इस आठवीं स्थिति में परमशिव को “अमृताङ्गद” नाम दिया गया है।

आगे नवीं स्थिति में ठहरे हुए परमशिव की स्तुति उसके उस रूप को लेकर के की जा रही है, जिस की अभिव्यंजना मातृका क्रम में लृ वर्ण से हुआ करती है—

### अमृतवपुः

९ लृ. शिवममृतवपुषममृत-कला-चतुष्टय-तृतीय-भाग-जुषम्।

प्रणमामि भासयन्तं क्रमरहितेऽपि क्रममनेकम् ॥९॥

चार अमृत कलाओं में से तीसरी कला का सेवन करते हुए और क्रम रूपता की वास्तविक सत्ता के न होते हुए भी अनेक प्रकार के क्रमों का आभासन करते हुए ‘अमृतवपुः’ (अमृतमय शरीर वाला) कहलाते हुए शिव को प्रणाम कर रहा हूँ।

ऋ, ऋ, लृ और लृ ये चार मातृका वर्ण चार अमृतकलाएं कहलाते हैं। इन चार कलाओं में से तीसरी कला लृ वर्ण है। उस लृ वर्ण की उपासना से अभिव्यक्त होने वाले शिव को “अमृतवपु” यह नाम सिद्ध परम्परा में प्रसिद्ध है, विशेष करके मातृका-उपासना के अभ्यासी वे साधक जो त्रिक नाम की उपासना करते रहते हैं, वे शिव की ऐसी स्थिति में उसे “अमृतवपुः” यह नाम देते आए हैं।

आगे अमृतोद्धार नाम से शिव की स्तुति की जा रही है, जिसकी उपासना ‘लृ वर्ण’



के रूप में की जाती है।

### अमृतोद्धार

१० लृ. संजीवनतुर्यकला-कलित-विबोधं समस्त-भावानाम्।  
दूषण-विष-शीर्णानाममृतोद्धारं शिवं वन्दे॥१०॥

मैं उस अमृतोद्धार नाम से उपासनीय शिव जी को प्रणाम कर रहा हूँ, जो (समस्त) दोष रूपी विषों से जीर्ण-शीर्ण बने हुए प्राणियों के लिए अमृत ही अमृत उगलते रहते हैं और संजीवन कलाओं में से चौथी कला के द्वारा उनमें सत्य ज्ञान को जगाया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि इस लृरूपिणी अमृतकला के माध्यम से शिव की उपासना करने वाले योगियों को शिव की कृपा से समस्त भावों के विषय में यथार्थ ज्ञान का उदय हो जाता है। तदनुसार वे समस्त भावों को शिवरूपतया ही देखते रहते हैं; चाहे वे भाव पहले द्वैतात्मक विष से जीर्ण-शीर्ण क्यों नहीं बने हों।

त्रिक-उपासना की इस स्थिति में शिव को “अमृतोद्धार”, अर्थात् अमृत ही अमृत उगलने वाला कहा जाता है। पाणिनीय व्याकरण शास्त्र में लृ वर्ण केवल ह्रस्व ही माना गया है। इसका दीर्घरूप माना नहीं गया है। परन्तु काश्मीर शैव दर्शन में इसे दीर्घ भी माना गया है।

इस लृ वर्ण की स्थिति में शिव को योगियों ने “अमृतोद्धार” अर्थात् अमृत उगलने वाला कहा है।

११ ए. आगे इन वर्णों द्वारा की जाने वाली शैव योगमयी मातृका-उपासना में इस ‘ए’ वर्ण से अभिव्यक्त होते हुए ‘अमृतास्य’ नाम से कहलाने वाले शिव की स्तुति इस ग्यारहवीं आर्या से की जा रही है—

### अमृतास्य

एकमनुत्तररूपात् प्रभृति-त्रिक-शक्ति-पूरितानन्दम्।

अमृतास्यमस्य जगतः प्रमाणभूतं शिवं वन्दे॥११॥

मैं समस्त जगत के मूल प्रमाण बने हुए उस अमृतास्य कहलाने वाले शिव को प्रणाम करता हूँ, जो अकेला ही अपने अनुत्तर परशिवस्वरूप से लेकर के सर्वत्र अपनी तीन शक्तियों के द्वारा आनन्द को भरता हुआ इस जगत की स्थिति को प्रमाणित करने वाला एक मात्र प्रमाण बना रहता है।



तीन शक्तियां हैं— इच्छा ज्ञान और क्रिया। इस स्थिति में परमशिव को “अमृतास्य” नाम दिया गया है।

आगे बारहवें पद्य के द्वारा शिव को अमृततनु नाम दिया गया है। उस नाम से शिव की स्तुति इस बारहवीं आर्या के द्वारा की जा रही है।

### अमृततनु

१२ ऐ. ऐक्य परमार्थकलया त्रिशक्ति युग घटित वैश्वरूप्यमहम्  
अमृततनुमतनुबोध-प्रसर-महाकारणं स्मरामि हरम्॥१२॥

एकता की पारमार्थिक कला के द्वारा तीन-तीन शक्तियों के जोड़े से विश्वरूपता को घटित करने वाले, तथा अमृतात्मक शरीर वाले और असीम प्रकाश के फैलाव के महान् स्रोत रूपी अमृत-मूर्ति हर का मैं स्मरण कर रहा हूँ।

तीन-तीन शक्तियों के दो जोड़े ये हैं (क) १, इच्छा, २, ज्ञान और ३, क्रिया तथा (ख) १, ईषणा, २, उन्मेष और ३, ऊनता। इस पद्य के देवता “अमृततनु” नाम के रुद्र हैं।

### अमृतनिषेचन

१३ ओ. ओतप्रोतं सकलं विद्ध्वा स्वरसेन शिवमयीकुरुते।

योऽनुत्तर-धाम्न्युदयन् स्वयममृतनिषेचनं तमस्मि नतः॥ १३॥

जो स्वयं सर्वोपरि विद्यमान पद पर उदय करता हुआ अपने ही भीतर ओतप्रोत भाव से विद्यमान समस्त विश्व का वेधन करके अपने आत्म आनन्दमय रस से उसका स्वयं अभिषेक करके उसे शिवमय ही बना देता है उस “अमृतनिषेचन” नामक रुद्र को मैं नमस्कार करता हूँ॥१३॥

ओ वर्ण से इस रुद्र की ओर निर्देश किया जाता है।

### अमृतमूर्ति

१४ औ. औषधमाधिव्याधिषु पाशत्रयशातनं त्रिशूल करम्।

वन्देऽहममृत-मूर्तिं पूर्ण-त्रिक-शक्ति-परमार्थम्॥१४॥

जो सभी मानसिक और शारीरिक पीड़ाओं या रोगों के लिए परम औषध है, जो आणव, मायीय और कर्म नाम के तीनों मलों का नाश करने वाला है और जो (इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपी) तीन शक्तियों के त्रिशूल को हाथ में धारण करता



रहता है, जो इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूपिणी तीन शक्तियों का पारमार्थिक स्वामी है, उसी अमृतमूर्तिस्वरूप तथा “अमृतमूर्ति” नाम के रुद्र भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ।

‘ओ’ स्वर से इस अमृतमूर्ति नामक रुद्र के नाम की अभिव्यंजना होती है।

### अमृतेश

१५ अं. बैन्दममृतरसमयं वन्दे योऽनुत्तरे निजे धाम्नि।

पूर्णीभावयतितमाममृतेशं तं नमस्यामि॥१५॥

मैं उस अमृतरसमय बिन्दुस्वरूप शिव को प्रणाम करता हूँ जो अपने भक्त को अनुत्तर पद पर लेता हुआ उसे पूर्णता की स्थिति पर पूरी तरह से पहुंचा देता है अतः अमृतेश्वर या “अमृतेश” कहलाता है॥

‘अं’ स्वर से “अमृतेश” नामक रुद्र के नाम की अभिव्यंजना होती है।

### सर्वामृतधर

अः १६. प्रसृतमनुत्तररूपादानन्दादिक्रमेण विश्वमदः।

सर्वामृतधारमन्तर्बहिश्च विसृजन्तमभिवन्दे॥१६॥

‘मैं’ उस “सर्वामृतधर” नामक रुद्र को प्रणाम करता हूँ जो सर्वोपरि स्थित अनुत्तर पद से आनन्दादि पदों के क्रम से फैले हुए इस संसार की सृष्टि अन्तर्मुखतया और बहिर्मुखतया दोनों ही प्रकारों से करता रहता है।

सर्वामृतधर रुद्र इस “अः” स्वर का देवता है। \*

(क्रमशः)

---

\*स्मरण रहे कि यह दिव्य स्तुति ईश्वर स्वरूप सद्गुरु महाराज ने ईश्वराश्रम “निशात” में शिवभक्तों को अगस्त सन् १९८५ में सदा पाठ करने के लिए लिखवाई थी। आशा है कि भक्तजन इसका सदा पाठ करते होंगे॥

संपादक





## सद्गुरुमहिमा

रचना - आचार्य श्री रामेश्वरझा

अनुवाद-सुश्री प्रभादेवी

अपीन्द्रवज्रादपि विष्णुचक्रतो न हन्यते यो भवदोषविप्लवः।

तदादिदोष क्षणनैकहेतवो जयन्ति श्रीमत् गुरुपादपांसवः॥१॥

संसार का जो विप्लव रूपी दोष-आवागमन का भयंकर लांछन-इन्द्र के वज्र यानी बिजली की कड़क से तथा विष्णु भगवान् के महान् सुदर्शनचक्र से भी नहीं मिटाया जाता वही भवदोष मेरे गुरु देव की चरण-धूलि के तत्क्षण समाप्त करने में समर्थ है। ऐसे प्रभावशाली गुरु देव की चरण-धूलि की जय हो।

अनेक रूपेण भयप्रदेन विभासमानेन जगद्ग्रहेण।

गृहीत आसं नितरां विपन्नः कृतः प्रवृद्धो भवतः समृद्धः॥२॥

मैं अनेकानेक भयों से युक्त इस जगत् रूपी मगरमच्छ द्वारा पूर्ण रूप से पकड़ा गया था और इसी कारण मन तथा शरीर से खिन्न रहता था। ऐसी संकटापन्न दशा से आप ने मुझे उभारा है। आप सत्यतः उद्धार करने की क्षमता रखते हैं।

विहायदेवं सकलं परोक्षं समक्षभूतं गुरुं एक देवम्।

नमामि सोऽहं फलदं समक्षं श्री लक्ष्मणं लक्ष्मण यौगिकार्थम्॥३॥

नेत्रों से न देखे हुए-परोक्ष देवताओं को छोड़ कर मैं प्रत्यक्ष उपस्थित एक मात्र-देव गुरुदेव श्री लक्ष्मण जी को ही प्रणाम करता हूँ। जो वस्तुतः सभी शुभ लक्षणों से युक्त सार्थक नाम वाले हैं और मोक्ष फल देने में समर्थ हैं।

भवन्तमासाद्य जनैर्विमुच्यते,

न यान्ति पारं यदि केऽपि दुर्धियः।

सहस्रभानोर्महिमा न हीयते

दिवा न पश्यन्ति च पेचका यदि॥४॥

यह तो मानी हुई बात है-कि जो जन आप की शरण में आये हैं वे अवश्य मुक्त होंगे। किन्तु यदि कोई भाग्यहीन शिष्य संसार सागर को पार न कर पाये तो इस में आप का क्या दोष है। देखिये सूर्य देवता के उदय होते ही सभी जड़ चेतन वर्ग जग जाते हैं अर्थात् स्फूर्ति को प्राप्त करते हैं किन्तु अभागा उल्लू प्रातः होते ही अन्धा हो जाता है। ऐसा होने से सूर्यदेव की महिमा घटती है क्या? वह तो फिर भी महान् तेजस्वी बना रहता है।

विलोक्यते नाथ य एव कश्चित्

प्रसाद दृष्ट्या भवता भवेऽस्मिन्।



स एव मान्यो भवतीश वन्द्यो

महान यशस्वी भवभूतिमाञ्च ॥५॥

हे स्वामी गुरुदेव ! आप इस संसार में जिस भी किसी भक्त पर अनुग्रहपूर्ण दृष्टि-पात करते हैं-वही भक्त विश्व में माननीय, वन्दनीय, भोग-मोक्ष लक्ष्मी से संपन्न तथा महान्यशस्वी है।

अनन्ताय समुद्राय

व्याप्तविश्वाय भानवे।

दीयतेऽर्घः प्रदीपोऽपि

तथेऽयं गुरवे स्तुतिः ॥६॥

जिस भांति विशाल तथा अथाह समुद्र को जल तथा अर्घ आदि प्रदान किया जाता है और विश्व में व्याप्त सूर्य को दीपक दिखा कर अपना कर्तव्य मात्र निभाया जाता है। उसी भांति यह गुरु-स्तुति भी समझनी चाहिये। भाव यह है भगवान् सरीखे गुरुदेव की स्तुति भला अल्पज्ञ शिष्य कैसे कर सकता है। गुरुजनों की महिमा बखानी नहीं जाती। यह तो केवल मात्र मन को रिझाने का छोटा सा साधन मात्र है।



## शतशत प्रणाम

### शारिका जयन्ती श्रद्धांजलि

सुश्री प्रभा देवी

स्वनाम धन्या भगवती शारिका जी के विषय में जितना भी कहें कम है। आजीवन तपस्या की भट्टी में तप कर इन्होंने अपने जीवन को स्वर्णमय बनाया था। शम, दम, व्रतरूप नियम के सांचे में ढलकर इनका सम्पूर्ण जीवन निखर उठा था। बचपन से ही प्रभु पर अटूट विश्वास, प्रेम, भक्ति, अनुराग, स्नेह आस्था, लगन तथा तत्परता के भाव उभरे थे। इन्हीं मनोभावों की साकार-मूर्ति शारिका जी थीं। जिन महानुभावों को देवी जी के साथ उठने बैठने का सुअवसर मिला है वे उनके संपर्क का मूल्यांकन स्वयं कर सकते हैं।

बाल्यकाल से ही अल्प-भाषण करना इनका स्वाभाविक गुण था। सदा अभ्यास-परायण रहना इनका व्रत था। अल्पाहार करना इनका निजी स्वभाव था। गुरुदेव के प्रति प्राणपन से शरणागति का भाव इनका विशेष गुण था। “शक्तिपात वशात् देवि नीयते सद्गुरुं प्रति। दीयते परमं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासनाः ॥” इस तन्त्रोक्त उक्ति का ज्वलन्त उदाहरण देवी शारिका जी थीं। बाल्यकाल में ही इन्हें घर पर ही स्वयं शिवतुल्य ईश्वर-स्वरूप जी मिलने आये।



बातों-बातों में इन्हें दृष्टि-दीक्षा करके कृतार्थ किया। देवी जी को इस दीक्षा का फल दिनों में मिल गया। वे अहर्निश अभ्यास-परायण रहने लगीं। पर-वैराग्य के उदय होने से वे अपने शरीर की सुध-बुध भी खो बैठीं। घंटों विमर्श के आनन्द में विभोर रहने लगीं। अपनी युवावस्था में पदार्पण करने पर तो ये पूर्ण रूप से गुरु-चरणों में समाविष्ट हो गई थीं। इनकी सम्पूर्ण जीवनी का उल्लेख 'भावार्चन' नामक पुस्तिका में विस्तार-पूर्वक किया गया है।

इनके सम्भाषण में प्रायः हास्य-रस की पुट रहा करती थी। बात धीमे से कह देती थीं सुनने वाला हंस-हंस के लोट-पोट हो जाता था। स्वयं बात कह कर गंभीर हो जाती थीं। गुरुवर्य को यह साक्षात् शंकर के तुल्य मानती थीं। कभी भी उनकी आज्ञा का उल्लंघन देवी जी ने नहीं किया है। श्रद्धा, भक्ति और वात्सल्य इन में पूर्ण रूप से प्रतिफलित हुए थे। इनकी शान्त मूर्ति को देखकर ही मन, चंचलता के स्वभाव को भूल जाता था और यही चाहता था, घंटों इन्हीं के पास बैठा रहूं। किन्तु देवी जी के पास इतना समय ही कहां होता था, जो वह दर्शकों को देतीं। वह तो गुरुदेव के इंगितों का आश्रय ले चुकी थीं। सदा इसी जोह में रहती थीं कि गुरु-आज्ञा कहीं हाथ से न निकल जाये। इस कठिन तपस्या का पालन उन्होंने आजीवन किया और इस में वह सफल भी रहीं।

भगवान की भांति अपने वास्तविक रूप को छिपाने में यह अति प्रवीण थीं। अहर्निश अभ्यास-परायण रहती हुई भी, ये साधारण मानव की भांति व्यवहार करती हुई दिखाई देती थीं। अर्ध-रात्रि में मुंह हाथ धोकर अपने आसन पर प्रातःकाल तक ध्यान मग्न होकर बैठना, इनका निजी शुगल था। यहां तक कि अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भी अपनी शय्या पर ही पद्मासन लगा कर सारी रात बैठी रहती थीं। नींद पर मानों पूर्ण विजय प्राप्त की थी। जब भी कभी नींद का आवाहन करती तो उसी द्वार से तुर्यावस्था का चर्वण करके कृतकृत्य हो जाती थीं। तथ्य शब्दों में गुरु-कृपा की पात्र ये अनायास ही बन गई थीं। शक्तिपात का ज्वलन्त उदाहरण देवी शारिका जी साक्षात् थीं।

अन्त में हम तो नपे-तुले शब्दों में यही कहेंगे—

शमा में हिम्मत कहां, जो एक परवाने में है,  
लुत्फ जलने में नहीं, जल-जल के मर जाने में है।

अपने गुरुदेव रूपी ज्ञान स्तम्भ के चारों ओर मंडराते मंडराते देवी शारिका जी ने अपना भौतिक शरीर न्यौछावर करके योगिनी के परम पद को प्राप्त किया। ऐसी पर-वैराग्य संपन्ना योगिनी को हम सबों का शत्-शत् प्रणाम।





**The good earth.  
Or leadership that  
provides the opportunity  
for new roots in the soil.**



The vagaries of nature have for long been the bane of Indian agriculture.

A bad monsoon, a failed crop, and it's a steep descent into debt.

New India, on its part, has always stood by the farmer. By providing security through wide ranging and need-based insurance covers.

These have enabled farmers to face the uncertainties of nature with courage and fortitude.

Perhaps New India's signal contribution has been in encouraging farmers to switch to lucrative subsidiary activities. With policy covers for poultry, pisciculture and horticulture (sugarcane, grapes, chikoos, etc.)

Planting the seeds of self-sufficiency. Helping farmers find new roots in the soil.

That's what makes New India the leading general insurance company in India.

**NEW INDIA ASSURANCE**



A subsidiary of the General Insurance Corpn. of India.

**75 years of solid, secure support**

CONTOUR-NIA-218A/95